पूंजीपति वर्ग की ''क्रान्तिकारिता'' के बारे में

हमारे देश के क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच में पूंजीपति वर्ग के राष्ट्रवादी व जनवादी चरित्र की क्रान्तिकारिता के विषय में कई सारी भ्रान्तियां मौजूद हैं। हमारे क्रान्तिकारी आन्दोलन के कई ऐसे संगठनों, जो सतही और भोथरे तरीके से अपनी अवस्थितियां रखते हैं, के दस्तावेजों व पत्रिकाओं में ये भ्रान्तियां स्पष्टत: और प्रत्यक्ष रूप नजर आ जाती हैं। कुछ सुलझे और परिष्कृत ढंग से बातें रखने वाले संगठनों के मामले में ये भ्रान्तियां प्रकारान्तर से दिखाई देती हैं, हालांकि उनकी बातों की तार्किक परिणति व उनके निहितार्थ भी इन्हीं उपरोक्त भ्रान्तियों तक पहुंचते हैं।

हमारे देश के कई क्रांतिकारी कम्युनिस्ट संगठन सामंतवाद-विरोधी संघर्ष व राष्ट्रवादी संघर्ष के सिलसिले में पूंजीपति वर्ग की क्रान्तिकारिता को बढ़ा-चढ़ा कर देखने के आदी हैं। वे यह मानते हैं कि पूंजीपति वर्ग इन मामलों में क्रांतिकारी चरित्र का प्रदर्शन करता हैं। कुछ संगठन तो इस सूत्रीकरण को प्रमेय के स्तर पर पहुंचा देते हैं। ऐसे संगठनों के लिए पूंजीवाद की स्थापना एक पूंजीवादी-जनवादी क्रान्ति के जरिये ही हो सकती है, क्रमिक सुधारों के जरिये नहीं। स्पष्ट है कि ऐसी सोच रखने वाले कामरेडों की नजर में पूंजीपति वर्ग सदैव तीव्र गति के पूंजीवादी विकास के मार्ग का पक्षधर होता है और वे पूंजीवादी व्यवस्था की स्थापना के दोनों पक्षों —आर्थिक व राजनीतिक पक्षों—में पूंजीपति वर्ग को एक ही स्तर पर जुझारू, बहादुर व क्रान्तिकारी के रूप में देखते है।

इस प्रकार की सोच के दर्शन हमें सबसे अधिक तब होते हैं, जब हम भारत के स्वाधीनता संग्राम के दौर पर विचार कर रहे होते हैं। इस मामले में पूंजीपति वर्ग द्वारा सामंतवादी व उपनिवेशवादी शक्तियों के खिलाफ एक सुसंगत ढंग का क्रान्तिकारी-जुझारू संघर्ष छेड़ने के बजाय ढुलमुल नीतियां अपनाये जाने, संघर्ष-समझौता-संघर्ष का मार्ग अपनाये जाने पर ये साथी उसे ''दलाल'' घोषित कर देते हैं। इस प्रक्रिया में वे भारतीय पूंजीपति वर्ग द्वारा उपनिवेशवादियों के साथ समझौते के पक्ष को ही देखते हैं और उसके उपनिवेशवादियों के साथ अन्तर्विरोधों व संघर्षों को नाकाफी, अपेक्षाओं से बहुत निचले दर्जे का, समझकर उसे नजरअंदाज ही कर देते हैं। ऐसी ही बात 1947 के बाद भारतीय शासक वर्ग — पूंजीपति वर्ग — द्वारा कृषि व्यवस्था के पूंजीवादीकरण के लिए उठाये गए के कदमों — जमींदारी का खात्मा, भूमि हदबन्दी कानूनों, चकबन्दी कानूनों, काश्तकारी सुधारों (tenancy reforms) — को भी वे क्रांतिकारी भूमि सुधारों की श्रेणी में न पाकर खारिज कर देते हैं।

यह सही है कि भारत के पूंजीपति वर्ग ने न तो उपनिवेशवाद के खिलाफ स्वतंत्र भारत के लिए क्रान्तिकारी ढंग से संघर्ष किया और न ही सामंतवाद के खिलाफ। 1947 के बाद भी उसने सामंतवाद को एक झटके में नेस्तनाबूत कर देने वाले क्रान्तिकारी भूमि सुधार नहीं किए, यह भी सही है। लेकिन 1947 में सत्ता हस्तांतरण के पहले और फिर सत्ता में आने के बाद उसने जो कुछ किया, उसे क्रान्तिकारी न पाकर उसे पूरी तरह खारिज कर देना और फिर उसी आधार पर उसे ''दलाल'' घोषित कर देना निश्चय ही कुछ सवाल खड़े

करता है। इससे कम से कम यह तो लगता ही है कि वे भारतीय पूंजीपति वर्ग से उस दौर में क्रान्तिकारी व्यवहार की अपेक्षा करते हैं। उनकी नजर में यदि किसी देश का पूंजीपति वर्ग अपने राष्ट्र-राज्य की स्थापना के लिए और सामंती निरंकुशतावाद के खिलाफ बुर्जुआ जनवाद के लिए क्रान्तिकारी ढंग से न लड़कर ढुलमुल-कमजोर तरीके से लड़े व संघर्ष-समझौते-संघर्ष की रणनीति अपनाये और धीरे-धीरे क्रमशः अपनी व्यवस्था का निर्माण करे तो वह ''दलाल'' ही होगा। पूंजीपति वर्ग से क्रान्तिकारी व्यवहार की अपेक्षा रखने का ही परिणाम होता है कि ये कामरेड 1947 के पहले स्वाधीनता की लड़ाई लड़ रहे (भले ही वह लड़ाई ढुलमुलपन से भरी रही हो) और बाद में शासन सत्ता संभाल रहे पूंजीपति वर्ग को ''दलाल'' घोषित करने के बाद एक ''राष्ट्रीय'' बुर्जुआ की खोज में लग जाते हैं। ऐसे साथियों की नजर में ''राष्ट्रीय'' का चरित्र क्रान्तिकारी होता है और वह क्रान्ति का सहयोगी होगा भले ही ढुलमुल सहयोगी ही क्यों न हों। यानी पूंजीपति वर्ग का कम से कम एक हिस्सा तो क्रान्तिकारी होगा ही।

ऐसे साथियों से जब कभी भारतीय बुर्जुआ द्वारा 1947 के बाद अपनी बुर्जुआ राजव्यवस्था स्थापित कर लेने व उसके पहले भी अपनी राजव्यवस्था के निर्माण के लिए उपनिवेशवादियों के खिलाफ संघर्ष करने का जिक्र किया जाता है तो वे यूरोपीय बुर्जुआख़्रविशेषरूप से 1789 की क्रान्ति के फ्रान्सिसी बुर्जुआ — के क्रान्तिकारी चरित्र का उदाहरण देने लगते हैं। इससे दो बाते स्पष्ट होती हैं। पहली तो यह कि ऐसे साथी कहीं न कहीं भारतीय बुर्जुआ से 1789 की क्रान्ति के बुर्जुआ होंने की अपेक्षा करते है और उन्हें यह भ्रम है कि बीसवीं शताब्दी में बुर्जुआ वैसा क्रान्तिकारी हो सकता है, जैसा कि 1789 की फ्रान्सिसी क्रान्ति का फ्रान्सिसी बुर्जुआ था। दूसरा यह कि ऐसे साथियों को कहीं न कहीं यह भ्रम भी है कि यूरोप के सभी देशों में बुर्जुआ क्रान्तिकारी ही था और उसने क्रान्ति करके, क्रान्तिकारी तरीके से सामंतवाद को नेस्तनाबूत करके, ही पूंजीवाद की स्थापना की। स्पष्टतः ऐसे साथियों की नजर में यूरोप में पूंजीवादी राज्य की स्थापना होने तक, आर्थिक व राजनीतिक दोनों संदर्भों में, यूरोपीय बुर्जुआ क्रान्तिकारी था, हर देश में और हमेशा ही।

प्रस्तुत आलेख का उद्देश्य न तो भारतीय बुर्जुआ वर्ग के चरित्र का विश्लेषण करना है और न ही अन्य क्रान्तिकारी संगठनों द्वारा भारतीय बुर्जुआ वर्ग के ऐतिहासिक विकास और वर्तमान चरित्र के संबंध में किये गए विश्लेषणों की गहराई में जाकर उनकी समग्र आलोचना करना इसका लक्ष्य है। यहां हम केवल सामान्य रूप से राष्ट्रवाद व बुर्जुआ जनवाद स्थापित करने को लेकर बुर्जुआ वर्ग की क्रान्तिकारिता के बारे में भ्रमों तक ही अपने को सीमित रखेंगे। यूरोपीय बुर्जुआ वर्ग की ''क्रान्तिकारिता'' के बारे में मौजूद भ्रमों की असलियत भी हम उजागर करने का प्रयास करेंगे।

I

भारत के क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट खेमे के भीतर जब भी भारत में पूंजीवादी विकास के बारे में और भारतीय राजसत्ता के पूंजीवादी चरित्र पर चर्चा की जाती है, कई संगठनों के साथी तुरंत फ्रान्सिसी क्रान्ति का हवाला देते हुए प्रश्न उठाने लगते हैं कि भारत में तो फ्रांस की 1789 की क्रान्ति की तरह सामंतवाद के खिलाफ निर्णायक व निर्मम संघर्ष नहीं लड़ा गया है, फिर भला भारत में पूंजीवादी राजसत्ता कैसे अस्तित्व में आ सकती है, कैसे भारतीय समाज में पूंजीवादी आर्थिक संबंध हावी हो सकते हैं। जाहिर है ऐसे तर्क देने वाले साथी

बीसवीं शताब्दी में भी पूंजीपति वर्ग से वैसी ही सामंतवाद-विरोधी क्रान्तिकारी भूमिका की अपेक्षा करते है जैसी कि फ्रान्स के पूंजीपति वर्ग ने दौ सौ वर्षों पहले फ्रान्सिसी क्रान्ति के दौरान निभाई थी।

इस प्रकार की तर्क पद्धति में पहला दोष तो यही है कि वह पूंजीपति वर्ग की सामंतवाद के विरूद्ध क्रान्तिकारिता को देश-काल-परिस्थितियों से स्वतंत्र एक ऐसी सच्चाई के रूप में पेश करती है जो सामंतवाद से पूंजीवाद में संक्रमण की आवश्यक एवं अनिवार्य शर्त है। इस तर्क के प्रस्तोताओं के लिये इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि जिस देश के बारे में चर्चा की जा रही है, उस देश में सर्वहारा वर्ग और उसकी चेतना की क्या स्थिति है। उनके लिये उस दौर में बुर्जुआ वर्ग की क्रान्तिकारिता में, जब अभी सर्वहारा वर्ग केवल बसें पद पजेमर्सा (स्वयं में एक वर्ग) की स्थिति में ही मौजूद है और उससे अगले दौर में बुर्जुआ वर्ग की क्रान्तिकारिता में, जब सर्वहारा वर्ग बसें वित पजेमर्सा की स्थिति में पहुंच चुका है, कोई अन्तर नहीं होता है। इसी प्रकार उनके लिए इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि जब किसी देश में बुर्जुआ वर्ग राजसत्ता पर कब्जा करने का प्रयास करता है, तब दुनिया में पूंजीवाद तरूणाई की अवस्था में, विकासमान अवस्था में है अथवा बुढ़ापे की, ह्रासमान अवस्था में। उनके अनुसार तो बुर्जुआ वर्ग की क्रान्तिकारिता दोनों अवस्थाओं में एक ही स्तर की हो सकती है। तभी तो वे बीसवीं शताब्दी के भारतीय बुर्जुआ से सामंतवाद के खिलाफ समझौताविहीन, निर्णायक व क्रान्तिकारी युद्ध लड़ने की अपेक्षा करते हैं, और भारतीय बुर्जुआ द्वारा ऐसा न किए जाने पर उसे ''दलाल'' घोषित कर एक ऐसे ''राष्ट्रीय'' बुर्जुआ की तलाश करते रहते हैं जो 1789 के फ्रान्सिसी बुर्जुआ की तरह भारतीय सामंतवाद से समझौताविहीन, निर्णायक व क्रान्तिकारी संघर्ष यदि स्वयं न भी छेड़े तो कम से कम भारतीय जनता के ऐसे क्रान्तिकारी संघर्षों में सहयोगी की भूमिका तो अवश्य अदा करेगा।

इस मामले की सच्चाई यह है कि बीसवीं शताब्दी के भारतीय बुर्जुआ की तो बात ही छोड़ दें उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय बुर्जुआ वर्ग, उदाहरण के लिये फ्रान्सिसी व जर्मन बुर्जुआ वर्ग, में भी क्रान्तिकारिता का वह ताप और तेवर नहीं था, जो अठारहवीं शताब्दी (1789) के फ्रान्सिसी बुर्जुआ वर्ग ने दिखाया था। उन्नीसवीं शताब्दी की क्रान्तियों, मसलन फ्रान्सिसी व जर्मन क्रान्तियों, में बुर्जुआ वर्ग पुराने समाज के वर्गों व उनकी मूल्यों-मान्यताओं के साथ अधिकाधिक समझौतापरस्ती के स्तर तक पहुँच गया था। इसीलिये क्रान्तिकारिता के मामले में सत्रहवीं शताब्दी की आंग्ल क्रान्ति और अठारहवीं शताब्दी की फ्रान्सिसी क्रान्ति के मुकाबले उन्नीसवीं शताब्दी की प्रशियाई व फ्रान्सिसी क्रान्तियों में बुर्जुआ वर्ग के चरित्र में बहुत फर्क था। इस फर्क के समझने की जरूरत है न कि नजरअंदाज करने की। इस बारे में सर्वहारा के महान शिक्षक व उसकी विचारधारा के जन्मदाता कार्ल मार्क्स लिखते है :

''प्रशियाई 5 मार्च क्रान्ति को 1648 की आंग्ल क्रान्ति अथवा 1789 की फ्रान्सिसी क्रान्ति से गड्ड-मड्ड नहीं करना चाहिये।....

''दोनों क्रान्तियों में पूंजीपति वर्ग ही वह वर्ग था जो वास्तव में आन्दोलन का हरावल बना।

सर्वहारा तथा शहरी लोगों के उन तबकों के, जो पूंजीपति वर्ग के हिस्से नहीं थे, या तो अभी तक पूंजीपति वर्ग के भिन्न हित नहीं थे, अथवा वे स्वतंत्र रूप से विकसित वर्ग या वर्गों की प्रशाखाएं नहीं बने थे। इसलिये वे जहां कहीं - उदाहरण के लिए फ्रांस में 1793 से 1794 तक - पूंजीपति वर्ग के विरूद्ध खड़े हुए, वे केवल पूंजीपति वर्ग के हितों की पूर्ति के लिए लड़े, भले ही ऐसा उन्होंने पूंजीपति वर्ग के ढंग से न किया हो। पूरे का पूरा फ्रांसीसी आतंकवाद पूंजीपति वर्ग के दुश्मनों निरंकुशवाद, सामन्तवाद तथा कूपमण्डूकवाद के साथ प्लेबियन तरीके से हिसाब किताब चुकता करने के अलावा और कुछ नहीं था।'' (कार्ल मार्क्स, 'पूंजीपति वर्ग और प्रतिक्रान्ति', का.मार्क्स, फ्रे एंगेल्स:संकलित रचनायें, खण्ड 1, भाग 1, प्रगति प्रकाशन, मास्को, पृष्ठ 170-171 जोर मूल में)

स्पष्ट है कि मार्क्स सत्रहवीं व अठारहवीं शताब्दी की क्रान्तियों को उन्नीसवीं शताब्दी की क्रान्तियों से अलग करके देखते हैं। पहले की क्रान्तियों में (1648 की आंग्ल क्रान्ति और 1789 की फ्रान्सिसी क्रान्ति) मार्क्स के ही अनुसार, पूंजीपति वर्ग वास्तव में क्रान्ति का हरावल था। लेकिन वह आगे इस बात को स्पष्ट करना नहीं भूलते कि यह वह समय है जब ''सर्वहारा तथा शहरी लोगों के उन तबकों के, जो पूंजीपति वर्ग के हिस्से नहीं थे, या तो अभी तक पूंजीपति वर्ग से भिन्न हित नहीं थे अथवा वे स्वतंत्र रूप से विकसित वर्ग या वर्गों की प्रशाखाएं नहीं बने थे।'' बिलकुल स्पष्ट है कि उस समय तक सर्वहारा वर्ग ने एक वर्ग के रूप में अपने को पहचाना नहीं था, वह अभी class for Itself की स्थिति तक नहीं पहुंचा था। जाहिर है कि इन क्रान्तियों के समय तक सर्वहारा वर्ग से अभी पूंजीपति वर्ग को कोई खतरा नहीं था, कोई चुनौती नहीं थी। यही कारण है कि मार्क्स व एंगेल्स की नजर में 1648 की आंग्ल व 1789 की फ्रान्सिसी क्रान्तियां किसी एक वर्ग की क्रान्ति न होकर यूरोपीय क्रान्तियां थीं, जिसमें समाज के सभी उत्पीड़ित वर्गों ने पुराने समाज के शासकों के खिलाफ जिहाद छेड़ दिया था।

लेकिन इन परिस्थितियों में भी बुर्जुआ वर्ग क्रान्तियों को अन्त तक, निर्णायक बिन्दु तक नहीं ले जाता है और इसीलिये कार्ल मार्क्स को यह चिन्हित करना पड़ता है कि फ्रान्सिसी क्रान्ति में 1793-94 में दौर में *''सर्वहारा व अन्य शहरी तबकों ने पूंजीपति वर्ग के विरूद्ध लड़ाई लड़कर, पूंजीपति के ही हितों की पूर्ति की।'' यानी स्वयं पूंजीपति वर्ग अपने हितों की पूर्ति के लिए भी और आगे जाने के लिये तैयार नहीं था और ''सर्वहारा वर्ग और अन्य शहरी तबकों ने''* पूंजीपति वर्ग के खिलाफ लड़कर उसी के हितों की पूर्ति के लिये काम किया। मार्क्स के अनुसार पूंजीपति वर्ग की हित-पूर्ति का यह काम सर्वहारा वर्ग व अन्य शहरी तबकों ने किया तो जरूर पर ''पूंजीपति वर्ग के ढंग से'' नहीं किया। निश्चित रूप से मार्क्स यही कहना चाहते थे कि पूंजीपति इस प्रकार के निर्णायक, निर्मम, समझौताविहीन व क्रान्तिकारी ढंग से निरंकुशवाद, सामंतवाद और कूपमण्डूकवाद के खिलाफ संघर्ष नहीं करना चाहता था जिस ढंग से अन्य वर्गों (सर्वहारा व अन्य शहरी तबकों ने) इस काम को अंजाम दिया था। आज भी पूंजीपति वर्ग के नुमाइंदे और इतिहासकार उस दौर को ''आतंक का राज्य'' कह कर पुकारते हैं। यह स्थिति तो तब थी जब कि सर्वहारा वर्ग ने एक निश्चित आकार व पहचान नहीं ग्रहण की थी और अभी वह बसें वित पजेमर्सा की स्थिति में नहीं पहुँचा था तथा इसी वजह से, जब पूंजीपति वर्ग क्रान्ति का हिरावल बन सकता था क्योंकि अभी उसे सर्वहारा वर्ग से कोई चुनौती नहीं मिल रही थी। हालांकि उस समय में भी पूंजीपति वर्ग क्रांति को निर्णायक बिन्दु तक क्रान्तिकारी तरीके से नहीं ले जाना चाहता था, जैसा कि हमारे क्रान्तिकारी आन्दोलन में बहुत से लोग सोचते हैं। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी में, जब सर्वहारा वर्ग की अलग पहचान बन गई, उसके हित स्पष्टतः पूंजीपति वर्ग से अलग हो गए और वह एक वर्ग के रूप में पूंजीपति वर्ग के सामने आ खड़ा हुआ, तब तो पूंजीपति वर्ग की क्रान्तिकारिता नाटकीय रूप से क्षरित हो गई।

सत्रहवीं शताब्दी की आंग्ल व अठाहरवीं शताब्दी की फ्रांसिसी क्रान्तियों के मुकाबले उन्नीसवीं शताब्दी में जब जर्मन पूंजीपति रंगमंच पर आता है, तब उसका चरित्र कहीं अधिक ढुलमुल व पुराने समाज के वर्गों व मूल्यों-मान्यताओं के प्रति कहीं अधिक समझौतापरस्त होता है। इसका विश्लेषण करते हुए एंगेल्स लिखते हैं:

''जर्मन पूंजीपति वर्ग का दुर्भाग्य यह है कि वह प्रचलित परिपाटी के अनुसार रंगमंच पर बहुत देख से आया। उसका उन्मेष ऐसे काल में हो रहा है जब अन्य पश्चिम-यूरोपीय देशों का पूंजीपति वर्ग राजनीतिक दृष्टि से पतनोन्मुख हो चुका है। इंग्लैंड में पूंजीपति वर्ग मताधिकार के विस्तरण के द्वारा ही अपने प्रतिनिधि ब्राइट को सरकार में घुसा सका परन्तु इस विस्तरण का एक ही परिणाम हो सकता है - समस्त पूंजीवादी शासन का अंत। फ्रांस में जहाँ पूंजीपति वर्ग, समूचे वर्ग के रूप में, केवल जनतंत्र के अंतर्गत दो वर्षों — 1849 और 1850 — के दौरान सत्तारूढ़ रह सका था, वह अपनी राजनीतिक सत्ता लुई बोनापार्ट और सेना के हवाले करके ही अपना सामाजिक अस्तित्व बनाये रख सका। और यूरोप के तीन सर्वाधिक उन्नत देशों के आपस में बहुत अधिक बढ़े हुए

संबंध के कारण आज यह संभव नहीं रह गया है कि जब इंग्लैंड और फ्रांस में पूंजीपति वर्ग के राजनीतिक शासन के उपयोगिता समाप्त हो गई हो, तब जर्मनी में वह आराम से बैठकर शासन कर सके।

पहले के सभी शासक वर्गों के विपरीत पूंजीपति वर्ग की यह विशेषता है कि उसके विकास में एक ऐसा मोड़ आता है जिसके बाद उसकी शक्ति के साधनों का प्रत्येक प्रसार, अर्थात् प्रथमतः उसकी पूंजी का प्रसार, उसे राजनीतिक शासन के अधिकाधिक अयोग्य बनाता है। ''बड़े पूंजीपतियों के पीछे सर्वहारागण खड़े हैं।'' पूंजीपति वर्ग जब अपने उद्योग, वाणिज्य और संचार के साधनों का विकास करता है तब वह सर्वहारा वर्ग को जन्म देता है। एक वक्त आता है - यह जरूरी नहीं है कि वह सब जगह एक ही साथ आये या विकास की एक ही मंजिल में आये - जब पूंजीपति वर्ग की नजर में यह बात आती है कि उसका सर्वहारा जोड़ीदार उससे ज्यादा तेजी से बढ़ रहा है। इस घड़ी से वह एकांतिक राजनीतिक शासन के लिए अपेक्षित बल खो बैठता है, वह संघातियों की तलाश करता है — उन्हें अपने शासन में साझीदार बनाने के लिए या यदि परिस्थितिवश ऐसा आवश्यक हो जाय तो पूरा शासन-सूत्र उनके हाथ में सौंप देने के लिए।

जर्मनी में पूंजीपतियों के लिए यह मोड़ 1848 में ही आ गया था। ... पूंजीपति वर्ग ने संघातियों की तलाश की और कीमत का लिहाज किए बगैर अपने को उनके हाथ बेच दिया और आज भी वह एक कदम आगे नहीं बढ़ सका है।

इन सारे संघातियों का स्वरूप प्रतिक्रियावादी है : राजशाही जिसके साथ सेना और नौकरशाही है, बड़े-बड़े अभिजातीय सामंत, छोटे-छोटे युंकर (प्रशियाई जमींदार) सरदार, यहां तक कि पादरी भी।... और सर्वहारा ने जितना अधिक विकास किया, जितना ही अधिक उसने एक वर्ग के रूप में अपने अस्तित्व का अनुभव किया और तदनुरूप आचरण किया, पूंजीपतियों की भीरुता उतनी ही बढ़ती गई।'' (फ्रेडरिक एंगेल्स, 'जर्मनी में किसान युद्ध' के दूसरे संस्करण 1870 की भूमिका, संकलित रचनायें भाग-2, खण्ड-1, पृष्ठ 216-18, जोर मूल में)

पूंजीपति वर्ग की क्रान्तिकारिता — सामंतवाद विरोध के संबंध में — में अटूट विश्वास रखने वाले हमारे कई साथियों को शायद आश्चर्य हो, लेकिन एंगेल्स के उपरोक्त उद्हरण में यह बिलकुल स्पष्ट है कि सर्वहारा वर्ग की बढ़ती शक्ति को देखकर पूंजीपति वर्ग न केवल अपनी क्रान्तिकारी शक्ति खो बैठता है बल्कि वह पुराने सामंती समाज की प्रतिक्रियावादी शक्तियों के साथ जा मिलता है और उनके साथ सर्वहारा वर्ग के खिलाफ संघबद्धता कायम कर लेता है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में जर्मन पूंजीपति वर्ग पुराने समाज की जिन प्रतिक्रियावादी शक्तियों से संघबद्धता कायम कर लेता है, उनके चरित्र को भी तो देखिये! एंगेल्स के अनुसार वे हैं: *''राजशाही, जिसके साथ सेना और नौकरशाही है, बड़े-बड़े अभिजातीय सामंत, छोटे-छोटे युंकर (प्रशियाई जमींदार) सरदार और यहाँ तक की पादरी भी।''* यह तथ्य निश्चित रूप से पूंजीपति वर्ग की ''क्रान्तिकारिता'' की पोल खोल कर रख देता है और इससे पूंजीपति वर्ग की क्रान्तिकारिता के बारे में बढ़-चढ़ कर, कल्पनावादी आंकलनों से भरपूर मिथकों में, विश्वास रखने वाले कामरेडों की आंखें भी खुल जानी चाहिये।

एंगेल्स की उपरोक्त टिप्पणी में यह बात भी स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आती है कि पूंजीपति वर्ग में क्रान्तिकारी तेवर की जगह पर लगातर बढ़ती जाती भीरुता का कारण केवल यही नहीं होता कि सम्बन्धित देश (यहाँ उदाहरण के लिए जर्मनी) में सर्वहारा वर्ग कितना विकसित, बड़ा व मजबूत है। इसी के साथ-साथ दूसरा महत्वपूर्ण पहलू यह भी है कि जब वैश्विक स्तर पर पूंजीवाद तरुणाई व विकासमान होने के दौर को पार कर बुढ़ापे व पतनशीलता के दौर में पहुँच चुका है तथा पहले विकसित पूंजीवादी राष्ट्रों में सर्वहारा वर्ग की चुनौती के कारण पूंजीपति वर्ग का चरित्र प्रतिक्रान्तिकारी हो चुका है और ऐसे समय में यदि किसी देश में पूंजीपति वर्ग रंगमंच पर आता है तो उसके लिए एक सुसंगत क्रान्तिकारी चरित्र का परिचय दे पाना संभव नहीं है। पुराने समाज की प्रतिक्रियावादी शक्ति को आमूल उखाड़ फेंकने के मामले में वह क्रान्तिकारिता की जगह भीरुता का

चरित्र ही प्रदर्शित करेगा। आखिर वह विश्व पूंजीवाद की नौजवानी की जगह बुढ़ापे की औलाद है। उससे इससे अधिक आशा नहीं की जानी चाहिये।

जर्मनी के सन्दर्भ में एंगेल्स बताते हैं कि अन्य यूरोपीय राष्ट्रों — फ्रांस व ब्रिटेन — में पूंजीपति वर्ग के राजनीतिक रूप से पतनोन्मुख हो जाने का असर जर्मन पूंजीपति वर्ग पर भी पड़ता है। अपने से पहले राजनीतिक रंगमंच पर आ चुके पड़ोसी देशों के पूंजीपति वर्ग की राजनीतिक पतनशीलता तथा सर्वहारा वर्ग की बढ़ती शक्ति के समक्ष उसकी क्रान्तिकारिता के बढ़ते क्षरण का प्रभाव बाद में राजनीतिक रंगमंच पर आने वाले पूंजीपति पर भी पड़ता है। वह नौजवानी में ही वृद्धावस्था की बीमारी से ग्रस्त हो जाता है। वह अपनी नौजवानी में उन कार्यभारों को भी क्रान्तिकारी तरीके से अंजाम नहीं दे सकता जिसे उससे पहले राजनीतिक रंगमंच पर आने वाले पड़ोसी देश के पूंजीपति वर्ग ने अपनी-अपनी नौजवानी में अंजाम दे दिया था। दरअसल यह फर्क दो भिन्न दौरों की वजह से पैदा होता है। पहले दौर में, जब सर्वहारा वर्ग की अलग पहचान नहीं है और उसके पूंजीपति वर्ग से अलग, पहचाने गए हित नहीं हैं, तब पूंजीपति वर्ग क्रान्तिकारी होता है और कई कार्यभारों को क्रान्तिकारी तरीके से अंजाम दे सकता है। लेकिन दूसरे दौर के आते ही, जब सर्वहारा वर्ग एक शक्तिशाली भिन्न हित वाले वर्ग के रूप में उठ खड़ा होता है, तब पूंजीपति वर्ग राजनीतिक रूप से पतनोन्मुख हो जाता है और प्रतिक्रियावादी ताकतों के साथ सर्वहारा वर्ग के खिलाफ संघबद्ध हो जाता है।

यह बात तो उन्नीसवीं शताब्दी की है जब अभी सर्वहारा वर्ग और उसकी विचारधारा व उसके संगठन विकसित हो ही रहे थे तो दूसरी तरफ स्वतंत्र प्रतियोगिता वाले पूंजीवाद की जगह अभी एकाधिकारी पूंजी वाला साम्राज्यवाद अस्तित्व में नहीं आया था। बीसवीं शताब्दी में एक तरफ समाजवादी क्रान्तियों के फलस्वरूप पहले रूस में समाजवादी राज्य की स्थापना होने और फिर बीसवीं शताब्दी के मध्य में एक बहुत शक्तिशाली समाजवादी खेमे के अस्तित्व आ जाने और दूसरी तरफ़ साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था के अस्तित्व में आ जाने के कारण जहाँ एक तरफ वैश्विक स्तर पर सर्वहारा वर्ग की शक्ति अभूतपूर्व ढंग से बहुत बढ़ जाती है, वहीं पूंजीवादी व्यवस्था की पतनशीलता भी अपने चरम पर जा पहुँचती है। जाहिर है, ऐसी परिस्थिति में बीसवीं शताब्दी में राजनीतिक रंगमंच पर आने वाला औपनिवेशिक देशों (मसलन भारत) का पूंजीपति वर्ग अपने पूर्ववर्तियों के मुकाबले बहुत कम जुझारू व क्रांतिकारी चरित्र का प्रदर्शन करेगा और कहीं अधिक भीरूता व प्रतिक्रान्तिकारिता का परिचय देगा। स्पष्ट है कि बीसवीं शताब्दी का औपनिवेशिक देशों का पूंजीपति वर्ग, सत्रहवीं शताब्दी (1789 की क्रान्ति के दौर) के फ्रांसिसी पूंजीपति की क्रान्तिकारिता को तो छू भी नहीं सकता, वह तो उन्नीसवीं शताब्दी के फ्रांसिसी व जर्मन पूंजीपति वर्ग — जिन्हें मार्क्स-एंगेल्स बार-बार कायर, भीरू जैसे विशेषणों से विभूषित करते हैं — के मुकाबले भी पिलपिला व कमजोर ही साबित हो सकता है।

इन बातों को ध्यान में न रखकर जब भारत के आज के क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कामरेड 1789 की फ्रांसिसी क्रान्ति के हरावल पूंजीपति वर्ग जैसा चरित्र बीसवीं शताब्दी के भारतीय पूंजीपति वर्ग में पाना चाहते हैं और वैसा न पाकर भारतीय पूंजीपति वर्ग को ''दलाल'' घोषित कर अपनी कल्पना के क्रान्तिकारी ''राष्ट्रीय'' पूंजीपति वर्ग की तलाश करते हैं, तो इसे दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जा सकता है।

हमारे ऐसे कामरेड भारतीय पूंजीपति वर्ग द्वारा क्रान्तिकारी तरीके से भूमि सुधार न करने, राजे-रजवाड़ों को सीधे-सीधे उखाड़ फेंकने के स्थान पर उनके प्रति समझौतावादी रूख अपनाने जैसी बातों को उदाहरण के रूप में पेश कर भारत के शासकों के पूंजीवादी चरित्र पर ही प्रश्नचिन्ह खड़ा कर देते हैं। उनके अनुसार तो यदि भारत में पूंजीपति वर्ग सत्ता में आया होता तो राजे-रजवाड़ों-जमीदारों के प्रति समझौतावादी रुख के स्थान पर उन्हें क्रान्तिकारी तरीके से उखाड़ फेंकता। इसीलिए 1947 के बाद जो सत्ता में आया, वह उनकी नजर में समग्रता में बुर्जुआ वर्ग नहीं, ''दलाल'' बुर्जुआ था। वे भविष्य में पूंजीपति वर्ग के एक धड़े — राष्ट्रीय पूंजीपति

वर्ग — से यह अपेक्षा करते हैं कि वह भारतीय जनता के क्रान्तिकारी वर्गों —सर्वहारा व किसान वर्गों— के साथ मिलकर क्रान्तिकारी तरीके से सामंतवाद की बची-खुची संस्थाओं व मूल्यों-मान्यताओं का खात्मा करने के लिए आगे आएगा।

ऐसे कामरेडों से हम यही कह सकते हैं कि वे इस बात पर गौर करें कि आज का युग पतनशील व मरणासन्न पूंजीवाद का, साम्राज्यवाद का, युग है जिसमें पूंजीपति वर्ग किसी भी किस्म की राजनीतिक प्रगतिशीलता की संभावना खो बैठा है और वह जनता के क्रान्तिकारी संघर्ष में कतई साथ नहीं आ सकता। शायद यही कारण है कि दशकों की अपनी खोज के बाद भी भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी वह ''राष्ट्रीय'' पूंजीपति वर्ग नहीं खोज सके हैं, जिसके साथ मोर्चेबन्दी कर किसी भी किस्म का क्रान्तिकारी संघर्ष छेड़ा जा सके।

II

हमारे जिन कामरेडों को यह भ्रम है कि यूरोप में पूंजीवादी व्यवस्था की स्थापना पूंजीपति वर्ग की पुराने समाज के वर्गों व मूल्यों-मान्यताओं के खिलाफ समझौताविहीन, क्रान्तिकारी संघर्षों से ही हुई है और जो यह भ्रम पाले हुए हैं कि पूंजीपति वर्ग आत्मगत रुप से क्रान्ति करके ही पुराने समाज के स्थान पर पूंजीवादी राज्य की स्थापना करने में विश्वास रखता है, उन साथियों को उन्नीसवीं शताब्दी की क्रान्तियों-प्रतिक्रान्तियों व वर्ग संघर्षों के बारे में मार्क्स-एंगेल्स के बेमिसाल लेखों (इनमें प्रमुख हैं: फ्रांस में वर्ग संघर्ष, लुई बोनापोर्ट की अठाहरवीं ब्रुमेर, जर्मनी में क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति वगैरह) को इस दृष्टिकोण से एक बार पुन: देख लेना चाहिए।

मार्क्स और एंगेल्स की यह स्पष्ट धारणा रही है कि क्रान्ति पूंजीपति वर्ग की मजबूरी होती है, इच्छा नहीं। वह मजबूरी में क्रान्ति करता है। यदि उसका बस चले और परिस्थितियाँ उसकी इच्छानुसार विकसित हों तो वह क्रान्ति नहीं करेगा बल्कि समझौतावादी ढंग से, धीरे-धीरे अपनी राजसत्ता को स्थापित करेगा। सर्वहारा वर्ग के शक्तिशाली होकर सामने आ जाने के बाद तो पूंजीपति वर्ग बिल्कुल यही प्रयास करता है। यही नहीं, सर्वहारा वर्ग व अन्य शहरी तबके, जिनके हित सर्वहारा वर्ग के सादृश आ खड़े होते हैं, यदि क्रान्तिकारी ढंग से पुराने समाज के सामंतों, जमींदारों व निरंकुशतावादी राजतंत्रों के खिलाफ हथियार उठा लेते हैं, तब पूंजीपति वर्ग एक समय तक मजबूरी में उनके साथ रहता है, लेकिन जैसे ही क्रान्ति आगे बढ़ती है, पूंजीपति वर्ग पुराने समाज के निरंकुशतावादी वर्गों व तत्वों के साथ मिलकर प्रतिक्रान्ति पर उतर आता है और सर्वहारा वर्ग व अन्य शहरी वर्गों के संघर्षों को नेस्तनाबूत करने के लिए किसी भी हद तक जाने में नहीं चूकता। इस प्रक्रिया में वह स्वयं, अपनी मर्जी से, राजनीतिक सत्ता को निरंकुश राजशाही के हाथ में सौंप देता है जो, सर्वहारा वर्ग के खिलाफ, उसके हितों की सुरक्षा कर सके। 1948-50 के दौरान की जर्मन व फांसिसी क्रान्तियों के बाद बिल्कुल यही हुआ भी था। तब स्वयं पूंजीपति वर्ग ने, अपनी इच्छा से, फ्रांस में लुई बोनापोर्ट व जर्मनी में बिस्मार्क की सत्ता को स्वीकार कर लिया था। इन क्रान्तियों में, यदि शुरुआत में, पूंजीपति वर्ग क्रान्ति के पक्ष में था भी तो वह उसकी मर्जी नहीं, मजबूरी थी। जनता के विभिन्न वर्गों ने धक्का देकर उसे क्रान्ति में आगे, हिरावल की स्थिति पहुँचा दिया था। मौका मिलते ही पूंजीपति वर्ग ने क्रान्तिकारी पक्ष से पिण्ड छुड़ा लिया और पुराने समाज की निरंकुशतावादी शक्तियों के साथ मिलकर प्रतिक्रान्ति में जुट गया। इसी की व्याख्या करते हुए, प्रशियाई पूंजीपति वर्ग के चरित्र पर रोशनी डालते हुए, कार्ल मार्क्स कहते हैं:

लाल परचम

''प्रशियाई पूंजीपति वर्ग को धकेलकर राजसत्ता के शीर्षस्थल को पहुँचा दिया गया था, उस ढंग से नहीं जिस ढंग से वह चाहता था, राजसिंहासन के साथ सौदेबाजी से नहीं बल्कि एक क्रान्ति से। उसे अपने हितों की नहीं वरन् राजसिंहासन के विरूद्ध अर्थात् स्वयं अपने विरूद्ध जनता के हितों की रक्षा करनी थी, क्योंकि एक जनान्दोलन ने पूंजीपति वर्ग के लिये रास्ता तैयार कर दिया था। परन्तु राजसिंहासन उसकी नजर में भगवान की दया से प्राप्त मात्र एक ऐसा पर्दा था जिसकी आड़ में उसके अपने सांसारिक हितों को छुपाने के लिए जगह प्राप्त हुई। उसके अपने हितों की तथा उसके हितों के साथ सामंजस्य रखने वाले राजनीतिक रुपों की अनुल्लंघनीयता को संविधान की भाषा में लिखे जाने पर उसका अर्थ इस प्रकार होगा–राजसिंहासन की अनुल्लंघनीयता। संवैधानिक राजतंत्र के प्रति जर्मन, विशेष रुप से प्रशियाई पूंजीपति वर्ग के उल्लासमय अनुराग का यही कारण है। इसलिए फरवरी क्रान्ति और उसके जर्मन प्रतिनादों का जहाँ प्रशियाई पूंजीपति वर्ग द्वारा इसलिये स्वागत किया गया कि उसने राज्य की पतवार उसके हाथों सौंप दी थी, वहाँ उसने साथ ही साथ उसके मंसूबों को उलट–पलट दिया क्योंकि उसके शासन के चारों ओर ऐसी शर्तों का घेरा खड़ा हो गया था जिन्हें न तो वह चाहता था और न जिन्हें वह पूरा कर सकता था।''(कार्ल मार्क्स, 'पूंजीपति वर्ग और प्रतिक्रान्ति', वही, पृष्ठ 170, जोर मूल मे)

अपने आलेखों में जगह–जगह मार्क्स–एंगेल्स ने इस धारणा का खण्डन किया है कि पूंजीपति वर्ग का यह चरित्र होता है कि वह बहादुरी के साथ, तीव्र गति से विकास करते हुए आगे बढ़ेगा और अपने विकास के मार्ग मे आने वाली हर बाधा का, पुराने समाज की हर शक्ति व हर संस्था का, क्रान्तिकारी ढंग से उन्मूलन करेगा और इस काम में समाज के सभी उत्पीड़ित वर्गों के साथ संबद्धता कायम करेगा। उनके अनुसार यह पूंजीपति के चरित्र का अवश्यंभावी पक्ष कतई नहीं है। वह कायरतापूर्वक, धीमे–धीमे भी विकास करने का मार्ग अपना सकता है और समाज के उत्पीड़ित वर्गों के साथ संघबद्धता कायम कर, क्रान्तिकारी ढंग से पुराने समाज की शक्तियों व संस्थाओं के खिलाफ संघर्ष का मार्ग अपनाने के बजाय ठीक उल्टा रुख भी अपना सकता है। पूंजीपति वर्ग क्रान्तिकारी संघर्ष में शामिल समाज के अन्य वर्गों —जैसे सर्वहारा वर्ग — के साथ गद्दारी कर सकता है और पुराने समाज की शक्तियों व संस्थाओं के साथ समझौता कर प्रतिक्रान्ति का वाहक भी बन सकता है। कार्ल मार्क्स ने पूंजीपति के इसी चरित्र को उद्घाटित करने के लिए जर्मन पूंजीपति वर्ग के चरित्र का निम्नलिखित तरीके से वर्णन किया है:

''जर्मन पूंजीपति वर्ग इतनी काहिली से, इतने कायरतापूर्वक और इतनी धीमी गति से विकसित हुआ कि उस क्षण जब वह सामंतवाद तथा निरंकुशवाद के सामने शत्रु के रूप में हुआ तो उसने खुद अपने सामने सर्वहारा तथा शहरी लोगों के वे सारे तबके शत्रुतापूर्वक खड़े पाये, जिनके हित तथा विचार सर्वहारा के हितों के तथा विचारों के सादृश थे। और उसने अपने पीछे एक वर्ग को ही नहीं वरन् अपने सामने पूरे यूरोप को शत्रुवत पांक्तिबद्ध पाया। 1789 के फ्रांसिसी पूंजीपति वर्ग के विपरीत प्रशियाई पूंजीपति वर्ग वह पूंजीपति वर्ग नहीं था जिसने पुराने समाज, राजतंत्र व अभिजात वर्ग के प्रतिनिधियों के मुकाबले में पूरे आधुनिक समाज का प्रतिनिधित्व किया था। वह नीचे धंसकर एक तरह की सामाजिक एस्टेट के स्तर पर पहुँच गया था, सिंहासन के उतने ही स्पष्ट रुप से विरूद्ध था जितने स्पष्ट रूप से कि जनता के विरूद्ध, दोनों के विरूद्ध होने के लिए उत्सुक था, अपने विपक्षियों में से हर एक के प्रति अस्थिर था, क्योंकि उसने दोनों को या तो अपने सामने अथवा अपने पीछे पायाय शुरु से ही उसमें जनता के साथ गद्दारी करने तथा पुराने समाज के शाही प्रतिनिधि से समझौता करने की प्रवृति थी क्योंकि वह खुद पुराने समाज का थाय वह पुराने समाज के विरूद्ध नये समाज का नहीं वरन् पुराने पड़ गए समाज के पुनर्नवीकृत हितों का प्रतिनिधित्व कर रहा थाय क्रान्ति की बागडोर उसके पास थी, इसीलिये नहीं कि जनता उसके पीछे थी बल्कि इसलिये कि जनता पीछे से उसे कोंच रही थीय वह हरावल था, इसलिये नहीं कि वह किसी नूतन सामाजिक युग की पहल का प्रतिनिधित्व कर रहा था बल्कि इसलिये कि वह केवल एक पुराने सामाजिक युग के विद्वेष प्रतिनिधित्व करता थाय वह था पुराने राज्य का एक स्तर जो अंकुरित होकर सामने नहीं

आया था वरन् जिसे एक भूकम्प नये राज्य की सतह पर ले आया थाय जिसमें अपने ऊपर विश्वास नहीं थाय जिसका जनता में विश्वास नहीं थाय जो अपने से ऊपर वालों के बारे में बड़बड़ाता रहता तथा अपने से नीचे वालों के सामने कांपता रहता थाय जो दोनों पक्षों के प्रति अहंवादी था, और अपने अहंवाद के प्रति सचेत थाय जो अनुदारपंथियों के सम्बन्ध में क्रान्तिकारी तथा क्रान्तिकारियों के सम्बन्ध में अनुदारपंथी थाय जिसका अपने ही आदर्श-वाक्यों पर विश्वास नहीं थाय जो विचारों की जगह शब्दजाल का उपयोग करता थाय जो विश्व-झंझा से भयभीत था और उसे अपने लाभ के लिए इस्तेमाल करता थाय जिसमें किसी भी तरह की कोई शक्ति नहीं थीय जो हर मामले में भावचोर थाय जो बहुत मामूली था क्योंकि उसमें मौलिकता का अभाव थाय जो अपने साधारणपन में मौलिक थाय जो अपनी ही इच्छाओं के साथ मोलभाव करता थाय जिसमें कोई पहलकदमी नहीं थीय जिसका अपने में विश्वास नहीं था, जनता में विश्वास नहीं थाय जिसकी कोई विश्व ऐतिहासिक प्रतिष्ठा नहीं थीय वह एक ऐसा घृणास्पद वृद्ध था जिसकी किस्मत में अपने जराग्रस्त हितों की खातिर एक प्राणवान जनता के प्रथम तरुणाई भरे संवेगों का पथप्रदर्शन करना और उन्हें मार्गच्युत करना लिखा हुआ हैय जिसकी आंखें बंद हैं, कान बंद हैं, दांत गायब हैं, एक प्राणविहीन वृद्ध ख़ ऐसा था प्रशियाई पूंजीपति वर्ग जिसने मार्च क्रान्ति के बाद अपने को प्रशियाई राज्य का कर्णधार पाया। (कार्ल मार्क्स, 'पूंजीपति वर्ग और प्रतिक्रान्ति', पृष्ठ 172-73, जोर मूल में)

इसी बारे में एंगेल्स कहते हैं:

''... प्रशा को सामंतवाद के अनगिनत अवशेषों से छुटकारा पाने और युंकरशाही को तिलांजलि देने का उपक्रम करना पड़ा है। स्वभावत: यह चीज़ मुलायम से मुलायम ढंग से और इस प्रिय उक्ति के अनुसार की गई : Immer langsam vara! (सदा धीरे-धीरे आगे बढ़ो)। कुख्यात जिला अध्यादेश को ही लीजिये। वह जागीर के सम्बन्ध में युंकर के निजी सामंती विशेषाधिकारों का अंत करता है और फिर उन्हीं को पूरे जिले में सभी बड़े जमींदारों के सामूहिक विशेषाधिकार के रूप में पुन:स्थापित करता है। बात तत्वत: वही रहती है, केवल उसे सामंती की जगह पूंजीवादी लिबास पहना दिया जाता है।....

''इस प्रकार प्रशा का भाग्य कुछ ऐसा विचित्र रहा कि उसने अपनी पूंजीवादी क्रान्ति, जिसे उसने 1808-1813 के काल में शुरु किया था और 1848 तक एक हद तक अग्रसर कर लिया था, इस शताब्दी के अंत में बोनापार्तशाही के सुन्दर रुप में सम्पन्न की। अगर सब ठीक-ठाक रहा और संसार में सुख-शांति रही और हम सब जीते रहे तो हम देखेंगे — शायद 1900 में — कि प्रशा की सरकार वास्तव में सभी सामंती संस्थाओं का उन्मूलन करेगी और प्रशा अन्ततोगत्वा उस बिन्दु पर पहुँचेगा जहाँ फ्रांस 1792 में था।'' (फ्रेडरिक एंगेल्स, 'जर्मनी में किसान युद्ध' के तीसरे संस्करण (1875) के लिए 1870 की भूमिका का पूरक, संकलित रचनायें : भाग 2, खण्ड 1, पृष्ठ 223)

III

मार्क्स व एंगेल्स, दोनों ही, राजनीतिक क्षेत्र में पूंजीपति वर्ग के चरित्र और आर्थिक क्षेत्र में पूंजीपति वर्ग के चरित्र में स्पष्ट भेद करके देखते हैं। जहां वे राजनीतिक क्षेत्र में पूंजीपति वर्ग को कायर, भीरू, दीन-हीन, समझौतावादी जैसे विशेषण लगाकर उसका जिक्र करते हैं, वहीं वे आर्थिक क्षेत्र में पूंजीपति वर्ग को क्रान्तिकारी

व तीव्र गति से विकास का वाहक मानते हैं। (हमारे तमाम कामरेड आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में पूंजीपति वर्ग के इन विरोधाभासी चरित्र को स्पष्टत: अलग-अलग करके देखने के बजाए उसे गड्ड-मड्ड कर देते हैं और आर्थिक क्षेत्र में पूंजीपति वर्ग के क्रान्तिकारी चरित्र को राजनीतिक क्षेत्र में भी लागू करने तक पहुँच जाते हैं)। ''जर्मनी में किसान युद्ध'' की भूमिका में फ्रेडरिक एंगेल्स इसी बात को इस प्रकार लिखते हैं:

''सामंतवाद के उन्मूलन को यदि सकारात्मक रूप में व्यक्त किया जाए तो उसका अर्थ पूंजीवादी व्यवस्था की स्थापना है। अभिजात वर्ग के विशेषाधिकारों के अंत के साथ कानून का रूप अधिकाधिक पूंजीवादी होता जाता है।.... एक ओर सरकार पूंजीपति वर्ग के हित में कानून का बहुत धीरे-धीरे सुधार करती है, उद्योग के रास्ते में सामंती अड़चनों को तथा बहुत से छोटे-छोटे राज्यों के अस्तित्व के कारण पैदा होने वाली अड़चनों को दूर करती है, मुद्रा की तथा बाटों व मापों की एकरुपता, वृत्ति-स्वातंत्र्य, आदि स्थापित करती है, ... दूसरी ओर, पूंजीपति वर्ग समस्त वास्तविक राजनीतिक सत्ता को सरकार के हाथ में छोड़ देता है, टैक्सों और कर्जों के लिए और सिपाहियों की भर्ती के लिए वोट देता है और सभी नये सुधार-कानूनों को इस रूप में सूत्रबद्ध करने में सहायता देता है कि उनसे अवांछित तत्वों के ऊपर पुराना पुलिस प्रभुत्व पूर्णत: शक्तिशाली और प्रभावशाली बना रहता है। पूंजीपति वर्ग तात्कालिक रुप से राजनीतिक सत्ता का परित्याग कर अपनी क्रमिक सामाजिक मुक्ति का मोल चुकाता है। यदि इस प्रकार का समझौता पूंजीपति वर्ग के लिए स्वीकार्य है तो स्वभावत: इसका मुख्य कारण उसे सरकार से भय नहीं, सर्वहारा से भय है।

''राजनीतिक क्षेत्र में पूंजीपति वर्ग कितना भी दीन-हीन क्यों न दिखाई पड़े, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि जहाँ तक उद्योग और वाणिज्य का सम्बन्ध है, वह अपने कर्तव्य का पालन कर रहा है।... उद्योग तथा वाणिज्य की जिस उन्नति का उल्लेख किया गया है, वह तब से और जोर-शोर से हो रही है।'' (फ्रेडरिक एंगेल्स, 'जर्मनी में किसान युद्ध' के तीसरे संस्करण (1875) के लिये 1870 की भूमिका का पूरक, संकलित रचनाएं: भाग-2, खण्ड-1, पृष्ठ 225-224)

एंगेल्स के उपरोक्त उद्हरण से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जानी चाहये कि जहां एक तरफ राजनीतिक क्षेत्र में जर्मन पूंजीपति वर्ग समझौतापरस्ती का रुख अपनाता है, वही इसी समझौतापरस्ती के दौर में, आर्थिक विकास यानी पूंजीवाद का विकास बहुत तेजी के साथ हो रहा है। इसीलिये आर्थिक क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिर्वतन ला देने वाले पूंजीपति वर्ग के लिये राजनीतिक क्षेत्र में भी क्रान्तिकारिता का परिचय देना कतई आवश्यक नहीं है। इसी बात को एंगेल्स ने 'आवास-प्रश्न' नामक अपने लेख में दूसरे ढंग से उठाया है:

''.... तमाम आर्थिक प्रश्नों में प्रशियाई राज्य अधिकाधिक पूंजीपति वर्ग के प्रभाव में पहुँचता जा रहा है। और यदि आर्थिक क्षेत्र में 1866 से कानून बनाने के काम को पूंजीपति वर्ग के हित में उससे ज्यादा नहीं ढाला गया है जितना वह वस्तुत: ढला है तो यह किसका दोष है? दोषी मुख्यतया पूंजीपति वर्ग हैय इसकी पहली वजह यह है कि वह इतना कायर है कि वह अपनी मांगों पर सशक्त ढंग से जोर नहीं डाल सकता, दूसरी वजह यह है कि वह हर रियायत का विरोध करता है यदि वह रियायत भयावह सर्वहारा वर्ग के हाथों में नये हथियार सौंपती है।'' (फ्रेडरिक एंगेल्स, 'आवास प्रश्न', संकलित रचनाएं: भाग 2, खण्ड 2, पृष्ठ-144)

यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक क्षेत्र में समझौतावादी रूख के कारण, प्रत्यक्षत: राजनीतिक सत्ता हाथ में न रखने के बावजूद, आर्थिक क्षेत्र में प्रशियाई पूंजीपति वर्ग का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। लेकिन अब भी वह, आर्थिक क्षेत्र में भी, अपने हित में तमाम कानून नहीं बनवा पर रहा है तो इसका कारण उसकी कायरता है। यही नहीं, पूंजीपति वर्ग तो स्वयं को मिलने वाली कई रियायतों का विरोध भी कर डालता है, यदि वह रियायत ''सर्वहारा वर्ग के हाथों में नए हथियार सौंपती है।'' यह है पूंजीपति वर्ग के क्रान्तिकारी चरित्र की

असलियत। वह तो अपने तमाम अधिकारों को तिलांजलि देने को बढ़-चढ़ कर तैयार है, यदि वे अधिकार सर्वहारा वर्ग को भी सशक्त बनाते हों।

'आवास-प्रश्न' में ही एंगेल्स जिक्र करते हैं कि कैसे सर्वहारा वर्ग पर नियंत्रण रखने की गरज से जर्मन पूंजीपति वर्ग आधुनिक बोनापार्टपंथी राजतंत्र के पक्ष में खड़ा हो जाता है ''जिसमें वास्तविक सरकारी सत्ता'' पूंजीपति वर्ग के हाथ में न होकर ''फौजी अफसरों व राजकीय अधिकारियों की एक खास श्रेणी के हाथों में है।'' एंगेल्स लिखते हैं:

''.... वास्तव में राज्य, जिस रूप में वह जर्मनी में नजर आता है, उसी सामाजिक आधार की अनिवार्य उपज है जिससे उसका जन्म हुआ है। प्रशा में — और प्रशा इस समय निर्णायक भूमिका अदा कर रहा है — भू-स्वामी अभिजात वर्ग की, जो अब भी सशक्त है, बगल में अपेक्षाकृत तरूण और घोर कायर पूंजीपति वर्ग विद्यमान है जिसने अब तक न तो फ्रांस की तरह प्रत्यक्ष राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त किया है और न इंग्लैंड की तरह न्यूनाधिक परोक्ष प्रभुत्व। परन्तु इन दो वर्गों के साथ ही साथ तादात की दृष्टि से तेजी से बढ़ता जा रहा सर्वहारा वर्ग भी है जो बौद्धिक दृष्टि से अत्यन्त विकसित है और दिनोंदिन अधिकाधिक संगठित होता जा रहा है। इसलिए पुराने निरंकुश राजतंत्र की मूल शर्त के — भूस्वामी अभिजात वर्ग तथा पूंजीपति वर्ग के बीच संतुलन — साथ-साथ हम यहाँ आधुनिक बोनापार्तपंथ की मूल शर्त — पूंजीपति वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग के बीच संतुलन — भी देखते हैं। परन्तु पुराने निरंकुश राजतंत्र की तरह आधुनिक बोनापार्तपंथी राजतंत्र में भी वास्तविक सरकारी सत्ता फौजी अफसरों तथा राजकीय अधिकारियों की एक खास श्रेणी के हाथों में हैं।'' (फ्रेडरिक एंगेल्स, 'आवास प्रश्न', संकलित रचनायें: भाग-2, खण्ड-2, पृष्ठ 142-143)

IV

भारत के क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन में बुर्जुआ वर्ग के जनवाद — भले ही वह बुर्जुआ जनवाद ही क्यों न हो — स्थापित करने के सम्बन्ध में भी यह गलत सोच काफी प्रभावी है कि पूंजीपति वर्ग क्रान्तिकारी ढंग से जनवाद लाने के लिए संघर्ष करता है, और अपनी पूंजीवादी राजव्यवस्था में निरंकुशतावाद को खत्म कर जनता को बुर्जुआ किस्म के जनवादी अधिकार दिलाने का पक्ष लेता है। इस मामले में, पिछली शताब्दियों का इतिहास हमें यही बताता है कि केवल सर्वहारा वर्ग ही सुसंगत तरीके से हमेशा जनवाद का पक्ष लेता है और उसके लिए लड़ता है। पूंजीपति वर्ग कभी भी सुसंगत व जुझारू तरीके से जनवाद का पक्षधर नहीं रहा है। वह बुर्जुआ किस्म के जनवाद का पक्षधर तभी तक था, जब तक शक्तिशाली सर्वहारा वर्ग व उसकी विचारधारा उभर कर सामने नहीं आये थे। इसके बाद तो वह एक ढुलमुल व कमजोर किस्म के जनवादी में रूपान्तरित हो जाता है। इसके बाद वह समाज में उतने ही जनवाद का पक्षधर होता है, जितने से केवल उसका फायदा हो। इससे अधिक आगे वह तभी जाता है जब जनता की ताकतें — सर्वहारा व किसान वर्गों की ताकतें — उसे आगे बढ़ने के लिए मजबूर कर दें। इसमें भी जहाँ कहीं उसे मौका मिलता है — जहां कहीं भी सर्वहारा व किसान वर्गो का दबाव ढीला हो जाता है — वह तुरंत जनवाद के लिए क्रांतिकारी संघर्ष को स्वार्थी व असंगत बनाने में जुट जाता है। इस संदर्भ में, हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोपीय बुर्जुआ ने जो भी जनवाद स्थापित किया, वह अपने अधिकतम रूप में भी मात्र एक औपचारिक जनवाद ही था। और यह औपचारिक जनवाद भी आबादी के एक छोटे से हिस्से — संपत्तिशाली पुरूषों — तक सीमित था।

लाल पताका

यहां तक कि महान फ्रान्सिसी क्रान्ति (1789) में भी महिलाओं को बमुश्किल 6 माह के लिए ही मताधिकार मिला था। जनवाद के लिये सुसंगत संघर्ष सर्वहारा ने — सर्वहारा के हिरावलों यानी कम्युनिस्टों ने — ही किया है। बुर्जुआ वर्ग का सुसंगत क्रान्तिकारी किस्म का जनवादी होना केवल एक भ्रम ही है। यह याद रखने की जरूरत है कि सार्विक मताधिकार देने वाला पहला देश कोई पूंजीवादी देश नहीं बल्कि सर्वहारा का पहला राज्य — सोवियत संघ — था। पूंजीपति वर्ग की जनवादिता के संबंध में लेनिन यह सार-संकलन करते हैं कि :

''... 1848 की क्रान्ति और उसके बाद के ऐतिहासिक अनुभवों, दोनों ने ही अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक जनवाद को सिखाया है ... कि बुर्जुआ जनवाद सर्वहारा के खिलाफ अधिक और अधिक खड़ा होता है, कि स्वतंत्रता के लिये संघर्ष वहीं सुसंगत रूप से छेड़ा जाता है जहाँ सर्वहारा द्वारा इसका नेतृत्व किया जा रहा हो।'' (लेनिन, 'दुमा ग्रुप की गतिविधियों की रिपोर्ट पर भाषण', 'रूसी सामाजिक जनवादी पार्टी' की पांचवी कांग्रेस, समग्र रचनाएं : खण्ड 12, पृष्ठ 448, अंग्रेजी से अनुवाद हमारा है)

''केवल सर्वहारा वर्ग ही जनवादिता के लिए सुसंगत रूप से लड़ सकता है। और जनवादिता के लिए लड़ने में वह विजयी तभी हो सकता है, जब किसान समुदाय उसके क्रान्तिकारी संघर्ष में शामिल हो जाये। यदि सर्वहारा वर्ग में इसके लिए काफी शक्ति नहीं होगी तो बुर्जुआ वर्ग जनवादी क्रांति का अगुवा बन जायेगा और उसे असंगत तथा स्वार्थी स्वरूप प्रदान कर देगा। सर्वहारा वर्ग तथा किसानों के क्रांतिकारी जनवादी अधिनायकत्व के सिवा और कोई चीज इस बात को रोक नहीं सकती।'' (लेनिन, 'सामाजिक जनवाद की दो कार्य नीतियां', संकलित रचनाएं (दस खण्डों में): खण्ड 3, पृष्ठ 71)

इसी तर्क को, आगे बढ़ाते हुए लेनिन यह स्पष्ट करते हैं कि किसी समाज में जनवादी क्रान्ति दो तरीके से हो सकती है : पहली इस प्रकार से कि वह मुख्यत: बड़े पूंजीपतियों, वित्तीय धनपतियों और ''प्रबुद्ध'' जमींदारों के लिए लाभदायक हो, तो दूसरे इस रूप में कि वह किसानों व मजदूरों के लिए लाभदायक हो। फर्क इससे पड़ता है कि कौन क्रान्ति का अगुवा है। लेनिन लिखते हैं :

''.... इसका यह मतलब हरगिज नहीं है कि जनवादी क्रान्ति ऐसे रूप में नहीं हो सकती, जो मुख्यत: बड़े [1]पूंजीपति, वित्तीय धनपति और 'प्रबुद्ध' जमींदार के लिए लाभदायक हो, या ऐसे रूप में, जो किसान और मजदूर के लिए लाभदायक हो।'' (लेनिन, 'सामाजिक जनवाद की दो कार्यनीतियां', संकलित रचनाएं: खण्ड-3, पृष्ठ 46)

''... हम पर विरोधाभासी बात में रूचि रखने का आरोप लगाने वाले हर व्यक्ति को हम चुनौती देते हैं कि वह इस प्रस्थापना का खण्डन करे कि यदि हममें इतनी काफी शक्ति न हो कि क्रान्ति को सफलता की मंजिल तक पहुंचा सकें, यदि क्रान्ति 'ओस्वोबोज्देनिये'# वाले अर्थ में एक ''निर्णायक विजय'' में समाप्त होती है, अर्थात् उसका अंत केवल जार द्वारा आयोजित प्रतिनिधि सभा के रूप में ही होता है, जिसे केवल व्यंग्योक्ति में ही संविधान सभा कहा जा सकता है - तो वह ऐसी क्रान्ति होगी, जिसमें जमींदार तथा बड़े बुर्जुआ तत्वों की प्रधानता होगी। इसके विपरीत यदि हमें सचमुच महान क्रान्ति से होकर गुजरना है, यदि इतिहास इस बार ''गर्भपात'' को रोक देता है, यदि हममें इतनी शक्ति है कि हम क्रान्ति को सफलता की मंजिल तक, निर्णायक विजय तक पहुंचा सकें, इन शब्दों के 'ओस्वोबोज्देनिये' वाले या नव 'ईस्क्रा' वाले अर्थ में नहीं, तो वह ऐसी क्रान्ति होगी, जिसमें किसान तथा सर्वहारा तत्वों की प्रधानता होगी।' (लेनिन, 'सामाजिक जनवाद की दो कार्यनीतियां', संकलित रचनाएं: खण्ड 3, पृष्ठ 54-55, जोर मूल में)

ओस्वोबोज्देनिये (मुक्ति)-रुसी उदारवादी बुर्जुआ की प्रवक्ता मानी जाने वाली पत्रिका, जिसने 1903 में 'ओस्वोबोज्देनिये लीग' को जन्म दिया। 'ओस्वोजोज्देनिये'-पंथी आगे चल कर संवैधानिक-जनवादी पार्टी (कैडेट पार्टी) की रीढ़ बने। यह रूस के उदारतावादी राजतंत्रवादी बुर्जुआ वर्ग की प्रमुख पार्टी बनी।

लेनिन के उपरोक्त उद्हरणों से कई बातें बिल्कुल स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो यही कि जनवादी क्रान्ति भी दो तरीके से हो सकती है। पहले तरीके में वह मुख्यत: बड़े पूंजीपतियों, वित्तीय धनपतियों और जमींदारों के लिये लाभदायक होगी तो दूसरे तरीके में वह मजदूरों व किसानों के लिए लाभदायक होगी। लेकिन व्यवहार में यह दोनों ही तरीके पूर्णत: संभव हैं। लेनिन इसे भी बिल्कुल स्पष्ट कर देते हैं कि यदि मजदूरों व किसानों के पास पर्याप्त शक्ति न हो या मजदूर-किसान अपनी सतर्कता को तनिक भी ढीला कर दें, तो तुरंत मौके का फायदा उठाकर पूंजीपति वर्ग जनवाद के लिए संघर्ष को पुराने समाज की शक्तियों — राजतंत्र, जमींदार वर्ग, निरंकुश नौकरशाही — के साथ समझौते द्वारा सीमित कर देगा और जमींदारों, वित्तीय धनपतियों के साथ संघबद्ध होकर ऐसी व्यवस्था कायम करेगा, जिसमें पूंजीपतियों, वित्तीय धनपतियों जमींदारों को ही जनवाद का लाभ हो, मजदूरों-किसानों को नहीं।

हालांकि यह बात लेनिन रुस के पूंजीपति वर्ग व उसके प्रवक्ताओं की बातों से सर्वहारा वर्ग में पैदा का जा रही उलझनों-भटकावों-विच्युतियों से सर्वहारा वर्ग और उसके प्रतिनिधियों को सावधान करने के लिये लिख रहे हैं, लेकिन इसकी उपयोगिता बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक काल के रूस के लिये ही सीमित नहीं है। यह बीसवीं शताब्दी के उन अन्य समाजों पर भी लागू होती है जहाँ जनवादी कार्यभार पूरे किये जाना अभी बाकी था।

यह मुद्दा हम इसलिए उठा रहे हैं ताकि आज के भारत के क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन में व्याप्त एक गलत धारणा को दूर किया जा सके। हमारे आन्दोलन के कई साथी यह मानने को कतई तैयार नहीं होते कि पूंजीपति वर्ग के नेतृत्व में एक ऐसी व्यवस्था कायम किया जाना पूर्णत: संभव हैं जहाँ पूंजीपति वर्ग, पुराने समान के अन्य प्रतिक्रियावादी शक्तियों के साथ समझौता कर जनवाद के लिए चल रहे संघर्ष को सीमित कर दे और समाज के मेहनतकश वर्गों — सर्वहारा व किसान वर्गों — को जनवाद के फायदों से वंचित कर दे। हमारी समझ में बीसवीं शताब्दी के, औपनिवेशिक देशों, के पूंजीपति वर्गों के चरित्र को — विशेषरूप से भारतीय पूंजीपति वर्ग के चरित्र को — इसी रोशनी में देखा और समझा जाना चाहिये। यह उपरोक्त संभावनाओं को सीधे-सीधे नकार दिए जाने और बीसवीं शताब्दी में पूंजीपति वर्ग की क्रान्तिकारिता को जरूरत से ज्यादा बढ़ा-चढ़ा कर देखने का ही परिणाम है कि 1947 के पहले राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के जमाने में और उसके बाद भी पूंजीपति वर्ग के और उसकी प्रतिनिधि पार्टी - भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस - के चरित्र को समझने में हमारे आन्दोलन में अतिवादी गलतियां होती हैं। भारत में पुराने समाज की शक्तियों व संस्थाओं के प्रति भारतीय पूंजीपति वर्ग के समझौतावादी रूख और उनके साथ संघबद्धता कायम कर भारतीय पूंजीपति वर्ग द्वारा जनवाद के संघर्ष को सीमित कर, उसे मात्र ऊपरी वर्गों के हितों के अनुरूप बनाने की प्रक्रिया को उसी गलत सोच के कारण ठीक से नहीं समझा गया और भारतीय बुर्जुआ को ''दलाल'' करार देकर उसके नेतृत्व में कायम व्यवस्था को ''अर्द्ध-सामंती'' करार दे दिया गया। और पिछले पचास वर्षों से भी अधिक समय से यह व्यवस्था, हमारे क्रान्तिकारी कामरेडों की नजर में, ''अर्द्ध-सामंती'' ही बनी रही है। आश्चर्य की बात यह है कि हमारे कामरेडों द्वारा कल्पित ''राष्ट्रीय'' बुर्जुआ, 1947 के पहले के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष में कभी भी, क्रांतिकारी ढंग तो छोड़ ही दें, जुझारू ढंग से भी सामने नहीं आया और पिछले पचास वर्षों में उसने तथाकथित ''अर्द्ध-सामंती'' व्यवस्था से कोई मोर्चा नहीं लिया है। दरअसल उसका अस्तित्व भी भारत के क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट साहित्य के पृष्ठों के बाहर कहीं नजर नहीं आता। दरअसल क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन के साहित्य में भी उसका अस्तित्व, उसकी यथार्थ में उपस्थिति के कारण नहीं बल्कि भारत के क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों की उस गलत धारणा के कारण है जिसके अनुसार पूंजीपति वर्ग जनवाद के लिए क्रान्तिकारी ढंग से अवश्य लड़ता है। संक्षेप में कहें तो ऐसी गलती भारत के क्रान्तिकारी कामरेडों के उस वैचारिक फ्रेमवर्क के कारण पैदा होती है जिसमें वे पूंजीपति वर्ग की क्रान्तिकारिता को बढ़ा-चढ़ा कर देखते हैं।

V

हमारे देश के क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन के कई साथियों को यह शिकायत रहती है कि यदि तत्कालीन 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' बुर्जुआ वर्ग की प्रतिनिधि पार्टी थी तो उसने अंग्रेजी शासन के खिलाफ क्रान्तिकारी ढंग से संघर्ष क्यों नहीं किया। राष्ट्रवाद के प्रश्न पर हमारे ये कामरेड भारतीय बुर्जुआ से, बीसवीं शताब्दी के बुर्जुआ से, उपनिवेशवादी व्यवस्था के भीतर पैदा हुए बुर्जुआ से, यह आशा करते हैं कि वह राष्ट्रीय मुक्ति के प्रश्न पर न केवल लड़े बल्कि उसकी यह लड़ाई, क्रान्तिकारी ढंग की, समझौताविहीन चरित्र की लड़ाई होनी चाहिये। इसी आधार पर वे कांग्रेस की ढुलमुल ढंग की, समझौतापस्ती से ग्रसित लड़ाई को राष्ट्रीय मुक्ति की लड़ाई के रूप में मान्यता देने को तैयार नहीं होते और कांग्रेस पार्टी उनकी नजर में भारतीय बुर्जुआ की पार्टी होने के स्थान पर मात्र अंग्रेजों के ''दलाल'' बुर्जुआ की पार्टी होकर रह जाती है।

यही सही है कि किसी भी देश का बुर्जुआ वर्ग यह चाहेगा कि उसके देश में उसी का राजनीतिक शासन स्थापित हो। निश्चित ही, वह इसके लिए प्रयास भी करेगा। लेकिन प्रश्न तो यह है कि उसके इन प्रयासों का चरित्र क्या होगा ? क्या यह आवश्यक है कि बुर्जुआ वर्ग अपने राजनीति शासन की स्थापना के लिए विरोधियों के खिलाफ — चाहे वह पुराने समाज की स्थानीय सामंती शक्तियां हो या फिर कोई विदेशी उपनिवेशवादी शासक — क्रान्तिकारी ढंग का ही संघर्ष करे। हम यहां यही स्थापित करना चाहते हैं कि यह बिलकुल आवश्यक नहीं है। बल्कि इससे आगे जाकर हम यह कहना चाहते हैं कि बीसवीं शताब्दी में, जब स्वतंत्र प्रतियोगिता वाले पूंजीवाद का अन्त हो जाता है और वैश्विक पूंजीवाद पतित होकर साम्राज्यवाद में तब्दील हो जाता है और दूसरी तरफ सर्वहारा वर्ग न केवल एक शक्ति के रूप में उसके सामने खड़ा हो, जब सर्वहारा की राजसत्ताएं समाजवादी देशों के रूप में विश्व के कई देशों में न केवल मजबूती से खड़ी हों बल्कि अन्य देशों में सर्वहारा के क्रान्तिकारी संघर्षों की विचारधारात्मक व भौतिक मदद करते हुए सर्वहारा संघर्षों को हवा दे रही हों तो ऐसे समय में भारत ही नहीं, दुनिया के हर औपनिवेशिक देश के पूंजीपति से क्रान्तिकारी व्यवहार की अपेक्षा करना व्यर्थ की बात है। ऐसे में, इन पूंजीपति वर्गों से राष्ट्रीय मुक्ति व जनवाद के संघर्ष के प्रति ढुलमुलपन, भीरूता, कायरता की और पुराने समाज की शक्तियों — देशी सामंती शक्तियों व विदेशी उपनिवेशवादियों — के प्रति समझौता परस्ती और उनसे संघबद्धता कायम करके अपना लक्ष्य प्राप्त करने की ही आशा की जा सकती है। बीसवीं शताब्दी में ज्यादातर औपनिवेशिक देशों के पूंजीपतियों ने यही मार्ग अपनाया भी।

औपनिवेशिक देशों के पूंजीपति वर्गों से क्रान्तिकारी किस्म के राष्ट्रवाद की अपेक्षा रखने वाले साथियों का ध्यान हम इस तथ्य की ओर आकृष्ट करना चाहेंगे कि बीसवीं शताब्दी के दौर — सम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्तियों के युग — में औपनिवेशिक देशों की तो बात ही छोड़ दें, उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय देशों का बुर्जुआ वर्ग भी, अपना हित बेहतर तरीके से सधने पर, अपने राष्ट्र के साथ गद्दारी करने से नहीं चूकता था। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए लेनिन ने लिखा है:

''हमने, सर्वहाराओं ने, दर्जनों बार देखा है कि जब भी बुर्जुआ का क्रान्तिकारी सर्वहारा से सामना होता है, तब बुर्जुआ वर्ग किस तरह से स्वतंत्रता, मातृभूमि, भाषा और राष्ट्र के हितों के साथ गद्दारी कर देता है। हमने फ्रांसिसी राष्ट्र के बहुत बेइज्जती व दबाये जाने वाले क्षणों में फ्रांसिसी बुर्जुआ वर्ग को, एक उत्पीड़ित राष्ट्र के बुर्जुआ वर्ग को, अपने ही देश के सर्वहाराओं को, जिन्होंने सत्ता पर कब्जा करने का प्रयास साहस किया था, को

कुचलने के लिए, प्रशियाइयों के समक्ष आत्मसमर्पण करते देखा है, 'राष्ट्रीय सुरक्षा की सरकार' को 'राष्ट्रीय गद्दारी की सरकार' बने देखा है।'' लेनिन, 'हमारे कार्यक्रम में राष्ट्रीय प्रश्न', समग्र रचनायें- खण्ड 6, पृष्ठ 460, अनुवाद हमारा है, जोर मूल में)

''फ्रान्सिसी बुर्जुआ वर्ग ने बिना एक क्षण की भी हिचकिचाहट के पूरे राष्ट्र के दुश्मन के साथ, उस विदेशी सेना के साथ, जिसने उसके देश को बर्बाद कर दिया था, समझौता कर लिया ताकि सर्वहारा आन्दोलन को कुचला जा सके।''

(लेनिन, 'मार्क्सवाद और संशोधनवाद', समग्र रचनायें: खण्ड 15, पृष्ठ 37, अंग्रेजी से अनुवाद हमारा)

लेनिन के उपरोक्त उद्हरणों से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता हैं कि यदि किसी देश के बुर्जुआ वर्ग सामने शक्तिशाली सर्वहारा वर्ग खड़ा हो और उसे अपने हितों के प्रति खतरा दिखाई पड़े तो वह ''स्वातंत्र्य, मातृभूमि, भाषा व राष्ट्र के हितों से गद्दारी'' कर देता है। हालांकि लेनिन ने यहाँ फ्रान्सिसी बुर्जुआ का उदाहरण दिया है, जिसने अपने ही देश के सर्वहारा देशवासियों के खिलाफ, उस जर्मन शासक व उसकी सेना के साथ समझौता कर लिया जो पूरे राष्ट्र का दुश्मन था और जिसने फ्रान्स को बर्बाद कर दिया था, लेकिन वे बिलकुल स्पष्ट हैं कि यह कोई अलग-थलग, अकेली, अपवाद घटना नहीं है और उनकी नजर में ऐसा ''दर्जनों बार'' देखा जा चुका है। जाहिर है राष्ट्रवाद, मातृभूमि व स्वातंत्र्य के संदर्भ में पूंजीपति वर्ग की क्रान्तिकारिता को लेकर हमारे शिक्षक लेनिन किसी गफलत में नहीं हैं। और हम भारतीय कम्युनिस्टों को स्वयं को भी इस सन्दर्भ में पूंजीपति वर्ग की क्रान्तिकारिता के बारे में गफलत से मुक्त कर लेना चाहिये।

लाल सलाम

VI

अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि आखिर वे कौन से कारण हैं जिनके चलते पूंजीपति वर्ग पुराने समाज की प्रतिक्रियावादी ताकतों — राजतंत्र, सामन्ती वर्गों, जमींदारों, धार्मिक संस्थाओं — और देश पर प्रभुत्व जमाने वाली विदेशी ताकतों — यथा उपनिवेशवादी ताकतों — के खिलाफ जनवादी व राष्ट्रवादी संघर्षों में क्रान्तिकारी तरीके से हिस्सेदारी करने की क्षमता खो बैठता है और न केवल इस संघर्ष में समझौतापरस्ती, कायरता, ढुलमुलपन और भीरूता का परिचय देता है बल्कि प्रतिक्रियावादी ताकतों के साथ संश्रय कायम कर अपने ही देश के मेहनतकश वर्गों — सर्वहारा व किसान वर्गों — के खिलाफ खड़ा भी हो जाता है।

पूंजीपति वर्ग के इस चरित्र का सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण भौतिक आधार तो उसका निजी संपत्ति का मालिक होना है। वह न केवल निजी संपत्ति का मालिक होता है बल्कि इससे भी आगे बढ़कर वह पूंजी का मालिक होता है। पूंजी यानी वह निजी संपत्ति जिसकी मार्फत वह देश के मेहनतकश वर्गों — सर्वहारा व किसान वर्गों — के श्रम का शोषण करता है और उसकी यह निजी संपत्ति तथा उसका वृद्धि-विकास इसी शोषण पर निर्भर करता है। वह इससे किसी भी कीमत पर हाथ नहीं धोना चाहेगा। वह राष्ट्रवाद व जनवाद का पक्ष-पोषक वहीं तक है जहां तक इस निजी संपत्ति व पूंजी की न केवल सुरक्षा हो बल्कि इनमें उत्तरोत्तर वृद्धि की गारण्टी हो। यदि राष्ट्रवाद व जनवाद की क्रान्तिकारी लड़ाई से उसके इस हित पर आंच आती हो तो वह न केवल इन संघर्षों को सीमित करने का प्रयास करता है बल्कि इससे आगे बढ़कर वह राष्ट्रवाद व जनवाद के

संघर्ष से गद्दारी करके विरोधी खेमें में शामिल भी हो सकता है। उसके लिये राष्ट्रवाद व जनवाद कोई अमूल्य, नैतिक, आदर्श सिद्धान्त नहीं बल्कि अपनी निजी संपत्ति में वृद्धि के साधन मात्र हैं। अपनी निजी संपत्ति व पूंजी के सुरक्षा के हित में वह इन्हें छोड़ भी सकता है। राष्ट्रवाद व जनवाद के संघर्ष में उसे यह डर सताता है कि इन संघर्षों के क्रान्तिकारी ढंग से लड़े जाने पर इनमें शामिल सर्वहारा वर्ग की क्रान्तिकारी चेतना बढ़ेगी और सर्वहारा वर्ग राष्ट्रवाद व जनवाद के क्रान्तिकारी संघर्षों को आगे बढ़ाकर समाजवाद के क्रान्तिकारी संघर्ष में तब्दील कर देगा। इसी बात को लेनिन ने यूं अभिव्यक्त किया है :

''लेकिन बुर्जुआ वर्ग समग्रता में निरंकुशतावाद के खिलाफ दृढ़निश्चयी संघर्ष छेड़ने में अक्षम हैय इस संघर्ष में वह अपनी संपत्ति खो देने से डरता है जो कि इसे मौजूदा तंत्र के साथ बांधती हैय वह मजदूरों की बहुत क्रान्तिकारी कार्यवाहियों से डरता है जो जनवादी क्रान्ति पर ही रूकेंगे नहीं बल्कि समाजवादी क्रान्ति की आकांक्षा पालने लगेंगेय वह सरकारी तंत्र व अफसरशाही के साथ, जिसके हित संपत्तिशाली वर्गों के हितों के साथ हजार बंधनों में बंधे हुए हैं, पूर्ण संबंध-विच्छेद से डरता है। इसीलिए स्वतंत्रता के लिए बुर्जुआ का संघर्ष बदमाशी भरे ढंग से कायरतापूर्ण, असंगत व अधूरे मन से किया गया होता है।'' (लेनिन, 'क्रान्तिकारी सर्वहारा के जनवादी कार्यभार', समग्र रचनायें : खण्ड 9, पृष्ठ 511-512, अंग्रेजी से अनुवाद हमारा है)

''हमने हमेशा ही कहा है - और क्रान्ति ने इसे साबित किया है - कि जब भी शोषकों की आर्थिक शक्ति दांव पर लगी होती है, उनकी संपत्ति जो करोड़ों मजदूरों व किसानों के श्रम को उनके कब्जे में रख देती है और भूस्वामियों और पूंजीपतियों की स्वयं को अमीर बनाने में मदद करती है, मैं दोहराता हूँ, जब पूंजीपतियों व भूस्वामियों की निजी संपत्ति दांव पर लगी होती है तब वे अपने देश व स्वतंत्रता के प्रति प्यार की सभी बातें भूल जाते हैं। ... जब भी उनके वर्गीय मुनाफे दांव पर लगे होंगे, बुर्जुआ वर्ग अपने देश को बेच देगा और अपने ही लोगों के खिलाफ किसी भी विदेशी के साथ मोल-भाव कर समझौता कर लेगा। रूसी क्रान्ति के इतिहास ने इस सत्य को बार-बार साबित किया और क्रान्तियों के सौ वर्षों के इतिहास ने यह दिखाया है कि यही वर्गीय स्वार्थों का नियम है और यही बुर्जुआ वर्ग की वर्गीय नीति है, हर समय में और हर देश में।''(लेनिन, 'अखिल रूसी C.E.C. की बैठक, जुलाई 29, 1918', समग्र रचनायें : 28, पृष्ठ 25-26, अंग्रेजी से अनुवाद हमारा)

''.... बुर्जुआ वर्ग के लिए यह बात हितकर होती है कि वह सर्वहारा वर्ग के खिलाफ अतीत के कुछ अवशेषों का सहारा ले, उदाहरण के लिए, राजतंत्र, स्थायी सेना, आदि का। बुर्जुआ वर्ग के लिए यह हितकर होगा कि बुर्जुआ क्रान्ति अतीत के सभी अवशेषों का जरूरत से ज्यादा दृढ़ता के साथ सफाया न कर दे, बल्कि कुछ अवशेषों को शेष रहने दे, अर्थात वह क्रान्ति पूरी तरह सुसंगत न हो, पूर्ण न हो, निर्णयात्मक तथा निर्मम न हो। सामाजिक-जनवादी इस विचार को यह कहकर बहुधा दूसरे ढंग से व्यक्त करते हैं कि बुर्जुआ वर्ग स्वयं अपने साथ विश्वासघात करता है, कि बुर्जुआ वर्ग स्वाधीनता के हेतु के साथ विश्वासघात करता है, कि बुर्जुआ वर्ग में सुसंगत रूप से जनवादी होने की क्षमता ही नहीं होती। यह बुर्जुआ वर्ग के लिए अधिक हितकर होगा कि बुर्जुआ-जनवादी दिशा में आवश्यक परिवर्तन अधिक मंद गति से, कम दृढ़ता के साथ, क्रान्ति द्वारा नहीं, बल्कि सुधारों द्वारा हों, कि ये परिवर्तन भूदासता की ''सम्मानित'' संस्थाओं को (जैसे राजतंत्र को) यथासंभव ज्यादा से ज्यादा बख्श दें, कि ये परिवर्तन आम जनता की, अर्थात किसानों की और खास तौर पर मजदूरों की स्वतंत्र क्रान्तिकारी हलचल, पहलकदमी तथा शक्ति को यथासंभव कम से कम विकसित करें, नहीं तो मजदूरों के लिए यह कहीं ज्यादा आसान हो जायेगा कि वे, जैसा कि फ्रांसिसी कहते हैं, ''बन्दूक एक कंधे से हटाकर दूसरे कंधे पर रख लें'', अर्थात् बुर्जुआ क्रान्ति जो हथियार उनके हाथ में देगी, क्रान्ति के फलस्वरूप जो स्वतंत्रता मिलेगी और भूदासता से साफ की गई जमीन पर जो जनवादी संस्थाएं जन्म लेंगी, उन सब को वे बुर्जुआ वर्ग के खिलाफ इस्तेमाल करें।'' (लेनिन, 'सामाजिक जनवाद की दो कार्यनीतियां', वही, पृष्ठ 58-59)

VII

अंतत: अपने लेख का समापन हम बिन्दुवार निम्नलिखित सार संकलन के साथ करते हैं:

(i) पूंजी का यह चरित्र होता है कि वह बिना क्रान्ति के, क्रमश: सुधारों के जरिये भी प्रभुत्व स्थापित कर सकती है। इसलिये पूंजीपति वर्ग का क्रान्तिकारी होना कोई जरूरी नहीं है। वह इसके बिना भी अपनाख्रयानी पूंजी काख्रराज कायम कर सकता है। इसलिये बुर्जुआ वर्ग का क्रान्तिकारी होना नियम नहीं, अपवाद होता है। यदि संभव हो, तो क्रान्ति किये बिना धीरे-धीरे, क्रमश: सुधारों द्वारा ही वह अपना राज कायम करना चाहेगा। वह मजबूरी में ही क्रान्ति करता है।

यहीं यह भी साफ होना चाहिये कि यही बात सर्वहारा के लिये सच नहीं है। सर्वहारा क्रान्ति करके ही अपना राज कायम कर सकता है। इसीलिये पूंजीवाद तो क्रमश: सुधारों के जरिये आ सकता है लेकिन समाजवाद केवल और केवल क्रान्ति के जरिये ही आ सकता है।

(ii) पूर्ण राष्ट्रीय मुक्ति बुर्जुआ का लक्ष्य नहीं होती। वह तो एक गृह-बाजार (home market) पर अपना अधिकार व समाज में पूंजीवादी व्यवस्था की स्थापना चाहता है। यदि यह काम बिना क्रान्ति के हो जाय जो कि संभव भी है तो वह भला क्रान्तिकारी क्यों होने लगा। इसके विपरीत अपना हित बेहतर सधने पर वह अपने ही राष्ट्र के साथ गद्दारी भी कर सकता हैं।

(iii) पूंजीपति वर्ग आर्थिक जगत में, पुराने समाज के मुकाबले, क्रान्तिकारी विकास करता है। लेकिन यह जरूरी नहीं है कि राजनीतिक क्षेत्र में भी वह इसी क्रान्तिकारिता का परिचय दे। बल्कि ज्यादा संभावना यही है कि सर्वहारा के एक वर्ग रूप में पहचान बनाने व सर्वहारा की विचारधारा व उसके क्रान्तिकारी संगठनों उद्भव के बाद पूंजीपति वर्ग राजनीतिक क्षेत्र में कायरता, भीरूता का ही परिचय दे और पुराने समाज की शक्तियों से समझौते करे। इस प्रकार बुर्जुआ वर्ग, एक ही समय में, आर्थिक क्षेत्र में क्रान्तिकारी व राजनीतिक क्षेत्र में समझौतापस्त हो सकता है।

(iv) पूंजीपति वर्ग का चरित्र एक सुसंगत जनवादी का चरित्र नहीं होता है। यदि सर्वहारा व किसान वर्ग जनवाद की क्रान्तिकारी लड़ाई छेडने में जरा भी पीछे रह जायं, तो पूंजीपति वर्ग का यही चरित्र होता है कि वह पुराने समाज की शक्तियों - राजतंत्र, निरंकुशतावाद, जमींदार वर्ग- के साथ समझौता कर जनवाद की लड़ाई को सीमित कर देता है। ऐसे में जनवाद बड़े बुर्जुआ, वित्तिय अभिजातों व ''प्रबुद्ध'' जमींदारों तक ही सीमित रह जाता हैं।

(v) पूंजीपति वर्ग की क्रान्तिकारिता को बढ़ा-चढ़ा कर देखने के कारण भारत जैसे तीसरी दुनिया के पूंजीपति वर्गों को, उनके समझौतापरस्त चरित्र के कारण, ''दलाल'' करार दे दिया जाता है। नतीजा यह निकलता है कि यदि ''दलाल'' बुर्जुआ है तो उसके विपरीत चरित्र का ''राष्ट्रीय'' बुर्जुआ भी होना चाहिए। हमारी समझ में यह जरुरी नहीं है कि ''दलाल'' और ''राष्ट्रीय'' का बंटवारा हो ही। एक देश का बुर्जुआ समग्रता में, पूरे का पूरा, समझौतापरस्त व फूंक-फूंक कर आधी-अधूरी जनवादी व राष्ट्रवादी लड़ाई लड़ने वाला हो सकता है। भारत की बुर्जुआ के बारे में हमारी यही राय है।

■ ■ ■

लाल सलाम